



# ज्ञानविधि

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)

3049-2327(Print)

IIFS Impact Factor-2.25

Vol.-2; Issue-1 (Jan.March) 2025

Page No.- 01-04

©2025 Gyanvidha

www.journal.gyanvidha.com

**श्री विनोद कुमार झा**

पूर्व. प्रधानाचार्य व इतिहासविद,  
सीतामढ़ी, बिहार

Corresponding Author :

**श्री विनोद कुमार झा**

पूर्व. प्रधानाचार्य व इतिहासविद,  
सीतामढ़ी, बिहार

## भारतीय सामाजिक व्यवस्था के मूलतत्त्व

भारतीय सामाजिक व्यवस्था उन तत्त्वों से मिलकर बनी है जो समन्वयकारी प्रवृत्ति को महत्त्व देती है। भारत में सदैव धर्म की प्रधानता थी। यहाँ मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति रहा और हमारी सामाजिक व्यवस्था का समस्त ढाँचा उसकी प्राप्ति के हेतु ही निर्मित किया गया।

भारतीय समाज में जीवन को त्याग के आदर्श में ढालने के लिए माना गया कि व्यक्ति अनेक चर और अचर तत्त्वों का ऋणी है। माना गया कि व्यक्ति के निर्माण में विभिन्न तत्त्वों का योगदान है। अतः उन तत्त्वों का व्यक्ति ऋणी है और उसके प्रति उसका भी कर्तव्य बनता है। इन ऋणों की संख्या भिन्न-भिन्न बताई गई है। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में पाँच प्रकार के ऋणों का उल्लेख है:-

1. (क) **देवऋण** - भारत में माना गया है कि देवताओं ने हमें जीवन प्रदान किया है तथा उन्हीं की कृपा से व्यक्ति उन्नति करता है अतः उनके हम ऋणी हैं। अतः विभिन्न यज्ञादि के द्वारा हमें उनके ऋणों को चुकाना चाहिए।

(ख) **ऋषि ऋण**:- ऋषियों के ज्ञान, तप आदि की सहायता से मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनके मार्गदर्शन से व्यक्तित्व का विकास करता है अतः वह ऋषियों का ऋणी है। इस ऋण का भुगतान दूसरों को शिक्षा प्रदान कर किया जा सकता है।

(ग) **पितृ ऋण**:- माता-पिता के द्वारा व्यक्ति जन्म पाता है, पालित-पोषित होता है तथा जीवन जीने योग्य बनता है। अतः हम माता-पिता के ऋणी हैं। पितृ ऋण का भुगतान सन्तानोत्पत्ति द्वारा चुकाया जा सकता है।

(घ) **अतिथि ऋण**:- हिन्दू संस्कृति में कहा गया है 'अतिथि देवो भव',

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में अतिथि स्वयं भी बनता है तथा अन्य भी उसके अतिथि बनते हैं। एक दूसरे का सेवा-सत्कार कर अतिथि ऋण का भुगतान किया जाता है।

(ड) **भूत ऋण**:- मनुष्य का निर्माण पंचभूतों से हुआ है। वनस्पतियों, पेड़-पौधों का मानव जीवन में काफी योगदान है। अतः हमें भी वनस्पतियों तथा पेड़-पौधों के संरक्षण एवं पोषण में योगदान देकर 'भूत ऋण' का भुगतान करना चाहिए।

**2. पंचमहायज्ञ** :- कहा गया है कि व्यक्ति यज्ञों के माध्यम से भी पाँचों ऋणों को चुकाता है। इस प्रकार यज्ञों की संख्या पाँच बताई गई है जो पंचमहायज्ञ कहलाते हैं।

(क) **देवयज्ञ** :- ईश्वरीय उपासना, अर्चना, वंदना आदि को देवयज्ञ कहा गया है। इसके द्वारा हम अहंकार से छुटकारा पाते हैं तथा देव ऋण से मुक्त होते हैं।

(ख) **ऋषियज्ञ** :- मनुष्य ज्ञान प्राप्तकर उसका हस्तांतरण आनेवाली पीढ़ियों में करे तथा ज्ञानियों का सम्मान करे उसे ऋषियज्ञ कहते हैं।

(ग) **पितृयज्ञ** :- जिस तरह माता पिता किसी व्यक्ति का पालन-पोषण तथा संरक्षण करता है उसी प्रकार व्यक्ति

(घ) को चाहिए कि वह भी माता-पिता का सम्मान करते हुए उनके जीवन-यापन में सहयोग करे तथा अपने से उत्पन्न संतति का भी पालन-पोषण, संरक्षण करे यह पितृयज्ञ कहलाता है।

(ड) **अतिथि यज्ञ** :- व्यक्ति का यह दायित्व है कि जिस प्रकार विभिन्न मौकों पर उसे दूसरों से सहायता मिली थी उसी प्रकार वह भी दूसरों की सहायता करे, समाज कल्याण में रुचि रखे।

(च) **भूत-यज्ञ** :- भूत-ऋण से मुक्ति हेतु भूत-यज्ञ की व्यवस्था है। वनस्पतियों की रक्षा करना, पशुओं और छोटे जीवों को भोजन देना और समस्त

प्राणियों के प्रति उदारता रखना भूत-यज्ञ कहलाता है।

**3. पुरुषार्थ** :- सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के कर्तव्यों का नियोजित ढंग से निर्वाह हेतु उसके समस्त प्रमुख कार्यों को 4 प्रमुख तथ्यों के रूप में प्रस्तुत किया गया है :- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

इन्हीं को पुरुषार्थ कहा गया है। 'मोक्ष' हमारे जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। इसकी प्राप्ति धर्म, अर्थ और काम के समसेवन से ही सम्भव है। वास्तव में पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम ही है। मोक्ष तो लक्ष्य है। 'धर्म' के सम्बन्ध में कहा गया है- "जिससे इस लोक में मनुष्य की उन्नति हो और परलोक में भी मुक्ति की प्राप्ति हो, वही धर्म है।" कहा गया है -

"यतोभ्युदयः निःश्रेयः ससिद्धिः सधर्मः।"

धर्म का अर्थ सृष्टि की रक्षा करना है। श्रीकृष्ण ने कहा है:-

"धर्म सृष्टि की रक्षा के लिए बनाया गया है, धर्म उन सभी चीजों से भिन्न है, जो सृष्टिको क्षति पहुँचाते हैं, वास्तव में धर्म को सृष्टि की हानि होने के लिए बनाया गया है। धर्म वह है जो सभी की रक्षा करता है।"

अर्थ का संबंध उन सभी साधनों से है जो सांसारिक सम्पत्ति अपनाने के लिए आवश्यक है जैसे धन और शक्ति । मनुष्य जबतक जीवित है, तबतक अर्थ भी उसके लिए आवश्यक है। कहा गया है :-

"अजरा अमरवत प्राज्ञो विधा अर्थं च चिन्त्येत्।"

पुनः कहा गया -

"पात्रत्वा धनमाप्नोति धनात् धर्मः ततः सुखम्।"

'अर्थ' को गृहस्थाश्रम व्यवस्था के लिए आवश्यक माना गया है।

'काम' से उन सभी इच्छाओं का संबोधन होता है जिसका व्यक्ति आनन्द लेना चाहता है और उससे संतोष प्राप्त करना चाहता है। इसका संबंध में लैंगिक संतोष से भी है। न्यूनतम स्तर पर 'काम' शब्द का

प्रयोग 'वासना' के लिए होता है। वास्तव में 'काम' व्यक्ति की इच्छाओं, प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं तथा मौलिक उतेजनाओं व उद्देश्यों का संबोधन करता है। काम सृष्टि की वृद्धि के लिए आवश्यक है तथा इसके लिए वैवाहिक व्यवस्था का प्रावधान है।

इस प्रकार से धर्म, अर्थ और काम मनुष्य के नैतिक तथा मानसिक प्रसाधनों और शक्तियों का बोध कराते हैं। अर्थ और काम सांसारिक पक्ष का बोध कराते हैं जबकि धर्म नैसर्गिक पक्ष की तरफ संकेत करता है।

**4. आश्रम :-** अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों की प्राप्ति मनुष्य एक ही समय में नहीं कर सकता। अतः ऋषियों ने व्यक्ति की आयु को 100 वर्ष मानकर उसे चार भागों में बाँट दिया, जो चार आश्रम कहलाये। (क) **ब्रह्मचर्य** (ख) **गृहस्थाश्रम** (ग) **वानप्रस्थ** और (घ) **सन्यास आश्रम**।

जन्म से लेकर 25 वर्ष की उम्र तक व्यक्ति **ब्रह्मचर्य आश्रम** में रहता है। इसी आश्रम में वह शिक्षा ग्रहण करता है और पवित्र जीवन व्यतीत करके पुरुषार्थ को प्राप्त करने का प्रयास करता है।

26 वर्ष से 50 वर्ष की आयु **गृहस्थाश्रम** कहलाता है। इसी आश्रम में व्यक्ति अर्थ और काम नामक पुरुषार्थों को प्राप्त करता है। सांसारिक जीवन को वास्तविक रूप में जीता है। सृष्टि संचालन में मदद करता है। इसी आश्रम में व्यक्ति पितृऋण, अतिथिऋण, भूतऋण से मुक्ति प्राप्त करता है।

**वानप्रस्थ आश्रम** 50 से 75 वर्ष की आयु तक माना गया है। इसी अवस्था में व्यक्ति धर्म तथा पुरुषार्थ को प्राप्त करते हुए 'मोक्ष' को जीवन का चरम लक्ष्य बनाने लगता है। ऋषि ऋण से मुक्त हो जाता है।

75 से 100 वर्ष का समय **सन्यास आश्रम** कहलाता है। इस आश्रम में मनुष्य सांसारिकता से पूरी तरह अलग हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति करता है।

**(5) कर्मवाद :-** कर्म का सिद्धान्त भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण दायित्व कर्म करना है। भगवान कृष्ण ने गीता में मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाया

है:- कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा भक्ति मार्ग। उन्होंने कहा- "हे अर्जुन, जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त हो कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है।"

"भस्त्विन्द्रयाणि मनसा नियम्या रमते उर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कपयोगमसक्तः स विशिष्यतो"

पुनः कहा - शरीरयात्रापि च तेन प्राद्धभेदकर्मणः।"

गीता के अनुसार-"जो मनुष्य शास्त्र के अनुसार निर्धारित कर्मों को नहीं करता, वह इन्द्रियों के सुखको भोगनेवाला पाप आयु पुरुष व्यर्थ हो जाता है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का विधाता है वह जैसा कर्म करेगा उसे वैसा फल मिलेगा। हिन्दू धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जन्म पूर्व जन्म के अकर्मों के प्रभाव को अपने सुकर्मों से घटाकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए हुआ है।

**(6) पुनर्जन्म :-** पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने द्वारा किए गए कामों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। हम जिस प्रकार के कर्म करते हैं उनमें से कुछ का फल तो हमें उसी जीवन में मिल जाता है परन्तु शेषकर्म हमारे आगामी जीवन को प्रभावित करते हैं। इस जन्म में हमारे द्वारा किए गए बुरे या अच्छे कर्मों का फल हमें आगामी जीवन में मिलता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार अच्छे कर्म का पुण्य समाप्त हो जाने के पश्चात् देवों को भी फिर से पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार सुख-दुःख, सफलता-असफलता, समृद्धि तथा निर्धनता आदि सभी हमारे पूर्वजन्म के कार्यों के परिणाम हैं।

**(7) संस्कार :-** संस्कार का अर्थ शुद्ध करना होता है। प्रत्येक संस्कार मनुष्य को उसके जीवन के लिए अपेक्षित अवस्थाओं का सम्बोधन करता है, तथा शुद्ध करके उसे जीवन के लिए तैयार करता है। संस्कार गर्भाधान की अवस्था से शुरू होती है। संस्कारों के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं-गौतम धर्म सूत्र में 48 संस्कारों का उल्लेख है किन्तु गृहस्थ सूत्रों में इनकी संख्या 40 बताई गई है। जिनमें इन **16 (सोलह) संस्कारों** का विशेष महत्व है। ये संस्कार हैं (1)

गर्भधान, (2) पुंसवन, (3) सीमान्तान्नयन, (4) जातिकर्म, (5) नामकरण, (6) निष्क्रमण, (7) अन्नप्रासन, (8) चूड़ाकर्म, (9) कर्णवेध, (10) उपनयन, (11) वेदारम्भ, (12) समावर्तन, (13) विवाह, (14) वानप्रस्थ, (15) सन्यास और (16) अंत्येष्टि ।

**(8) वर्ण एवं जाति :-** भारत में व्यक्ति के इहलोक तथा परलोक के संबंध में ही सिर्फ चर्चा नहीं की गई बल्कि समाज का संगठन भी सुचारु रूप से चलता रहे, लोग अपने-अपने व्यवसायों में रहकर अपने कर्तव्यों का पालन करते रहें, इस हेतु भारत में वर्णव्यवस्था को मान्यता प्रदान की गई। एक प्रकार से यह श्रम विभाजन की व्यवस्था थी जो सामाजिक उन्नति के लिए एवं सुख-शांति के लिए आवश्यक था। समाज को चार वर्णों में बाँटा गया - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र ।

**ब्राह्मणों** का कार्य पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना तथा करवाना, दान देना तथा लेना था। यह वर्ग समाज का मार्ग निर्देशित करता था। त्याग, दान और तप के द्वारा अन्य वर्गों के लिए आदर्श प्रस्तुत करता था।

**क्षत्रियों** का कार्य समाज की रक्षा करना था।

समाज में शांति व्यवस्था कायम रखना तथा किसी के साथ अन्याय न हो इसके लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना था। क्षत्रिय ब्राह्मणों से निर्देशन प्राप्त कर उनके ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करते थे।

**वैश्यों** का कार्य व्यापार करना था। वैश्य समाज का आर्थिक रीढ़ था। विभिन्न उद्योगों की उन्नति करना उनका कार्य था। वैश्यों के द्वारा समाज के लिए अर्थव्यवस्था कायम रखने का प्रयास किया जाता था।

**शूद्रों** का कार्य सेवा करना था। वे समाज की सेवा करते थे तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहायक थे। उनका समाज में निम्न स्थान था लेकिन वे समाज के लिए आवश्यक एवं महत्वपूर्ण थे।

प्रारंभ में भारत में वर्ण व्यवस्था ही थी। कालान्तर में इन्हीं वर्णों से जाति व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। एक- एक वर्ण के अन्तर्गत अनेक जातियाँ बन गईं। यह जाति व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण अंग रही। लगभग आज भी यह जाति व्यवस्था कायम है। वास्तव में अपने मूल तत्त्वों के आधार पर ही भारतीय सामाजिक संगठन कायम है।

•